



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2017; 3(3): 202-205
© 2017 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 15-03-2017
Accepted: 16-04-2017

सीताकान्त नाएक
संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली, भारत

निरुक्त की उपादेयता

सीताकान्त नाएक

प्रस्तावना

महर्षि यास्क ने निघण्टु के रूप में वैदिक शब्दों के कोश का संग्रह किया है। निरुक्त इसी निघण्टु की व्याख्या है। वेदार्थ-ज्ञान में निरुक्त शास्त्र की आवश्यकता सर्वोपरि है। इस शास्त्र में मंत्रों में प्रयुक्त शब्दों के निर्वचन दिखला कर उनके बहुविधा अर्थों को स्पष्ट किया जाता है। इस निरुक्त शास्त्र के महत्व को पाणिनि-शिक्षा के इस श्लोक में देख सकते हैं -

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्त श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

अर्थात्- वेदपुरुष के शरीर के छह अंग हैं। जिन में छन्द उसके पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष आँख हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा और व्याकरण उसके नासिका और मुख स्थानीय हैं। वेद को उस के अङ्गों सहित अध्ययन करके व्यक्ति ब्रह्मलोक (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि ने लिखा है- 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' अर्थात्-ब्राह्मण पुरुष को बिना किसी लाभ-हानि के चिन्ता किए अङ्गों सहित सभी वेदों का अध्ययन करना चाहिए, उसे जानना चाहिए। मनुस्मृति में मनुमहाराज लिखते हैं-

वेदवेदाङ्गत्तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् ब्रह्मभूयाम कल्पते॥ (12102)

अर्थात्-वेद-वेदाङ्गों को तत्त्व से जानने वाला व्यक्ति किसी भी आश्रम में क्यों न निवास करता हो, वह इस मनुष्य लोक में रहते हुवे भी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी का सूत्र है- पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (6.3.108)। इस सूत्र पर महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं- कानि पृषोदरादीनि? पृषोदर प्रकाराणि। कानि पुनः पृषोदरप्रकाराणि? येषु लोपामागवर्णविकाराः श्रूयन्ते न योच्यन्ते इति। काशिका में भी कहा है-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ इति।

Correspondence
सीताकान्त नाएक
संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली, भारत

यास्क भी अपने शास्त्र में शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय से व्युत्पन्न मानते हैं। जिन वैदिक शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का स्पष्ट निर्देश नहीं हो पाता उनको नैगमारूढ मानकर उन का यथावत् साधुत्व दर्शाते हैं तथा सभी नाम-शब्दों को धातुओं से व्युत्पन्न स्वीकार करते हैं। यह निरुक्तकार की अपनी विशेषता है।

स्वकृत ऋक्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य कहते हैं 'अतिगम्भीरस्य वेदज्ञस्य अर्थम् अवबोधयितुम् शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि।

गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है 'षडङ्गविदस्तत्ताधीमहे इति। विना प्रयोजन के मन्दमति व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, फिर मतिमान् की तो बात ही क्यों कहना। किसी विद्वान् ने लिखा है-

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।

यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।

इसलिये वेदार्थ का बोध कराना सभी वेदाङ्गों का मुख्य प्रयोजन है।

वेद के षडङ्गों में निरुक्त का प्रमुख स्थान है। निरुक्त का लक्षण करते हुवे शौनकीय बह्वृक्प्रतिशाख्य के वृत्तिकार विष्णुमित्र ने लिखा है- 'पदविभागमन्त्रार्थदेवतानिरुपणार्थं शास्त्रं निरुक्तम्' इति। यह निरुक्त का प्रवृत्ति निमित्त भूत लक्षण है।

प्राचीन आचार्य जिसे निघण्टु कहते थे उसे अर्वाचीन आचार्य निरुक्त की संज्ञा देते हैं। अतः पूर्वाचार्यों द्वारा संज्ञीकृत जो निघण्टु का भाष्य निरुक्त नाम से जाना है, वह वस्तुतः निरुक्त नहीं अपितु निरुक्त-भाषा है।

कोष का नाम निघण्टु है। यहाँ निघण्टु शब्द का अर्थ है- 'वैदिक कोष'। निघण्टु में तीन प्रकार के शब्दों (1. एकार्थक 2. अनेकार्थक और 3. देवनामवाची) का संग्रह होने से स्वयं यास्क अपने शब्दों के आरम्भ में लिखते हैं-

तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।

यहाँ निघण्टु शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग हुआ है। इसके आगे आचार्य स्वयं लिखते हैं- निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवोऽपि वाहननादेव स्युः समाहता भवन्ति यद्वा समाहता भवन्ति।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि यास्क तीन प्रकार के निघण्टु मानते हैं। उन्होंने 'निघण्टव' पद के तीन प्रकार के ही निर्वचन किये हैं। पहला निर्वचन वे निपूर्वक गम् धातु से दर्शाते हैं यास्क के तीनों प्रकार के निर्वचनों में अर्थ की प्रधानता है। निगम मन्त्र के भाग का नाम है। निरुक्त के नैगमकाण्ड में निगमों का संग्रह होने से उसे निघण्टु कहते हैं। इन निगमों में वेदार्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। औपमन्यव का नाम स्मरण करके यास्क यहाँ यह स्पष्ट कर देते हैं कि उन से पूर्व आचार्य भी कई प्रकार के निघण्टु मानते थे। यह तीन प्रकार के निघण्टु मानने की केवल उनकी अपनी ही कोई नई आधारणा नहीं है। इस काण्ड में अनेकार्थक शब्दों का संग्रह है।

वे अपने दूसरे प्रकार के निर्वचन में आङ्पूर्वक हन् धातु का प्रयोग करते हैं। यह अति प्राचीन प्रयोग है। दुर्गाचार्य ने भी हन्-धातु का इसी

अर्थ में- 'ब्राह्मण इदमाहृतम्' ऐसा प्रयोग पढ़ा है। जिसका अर्थ है कि ब्राह्मणों में ऐसा पढ़ा गया है। यास्क का यह निर्वचन नैघण्टुक काण्ड के एकार्थक शब्दों का निर्देश करता है। इस काण्ड में एक अर्थ दर्शाने वाले अनेक शब्दों को एक साथ पढ़ा गया है। जैसे- गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा... आदि पद एकार्थक हैं। निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों में ऐसे ही शब्दों का संग्रह किया गया है।

निर्वचन के अपने तीसरे प्रकार में यास्क सम्+आङ्+हृ धातु का निर्देश करते हैं मन्त्रों से समाहरण करके देवता वाची शब्दों का संग्रह किया है। ये सभी नाम निघण्टु के पञ्चम अध्याय में संगृहीत हैं। इसको दैवत काण्ड भी कहते हैं

प्रसिद्ध विद्वान् श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी अपने ग्रन्थ निरुक्तलोचन में लिखते हैं- 'असौ निघण्टुर्न हि मन्त्रग्रन्थः, न च ब्राह्मणग्रन्थः, नापि वेदाङ्गान्यतमः अपितु मन्त्रेभ्यः सङ्गृहीतपदसमूहात्मकोऽतिप्राचीनः समाम्नायविशेष एवेति.... अस्यैव निघण्टुभाष्यस्य निरुक्तत्वं वेदाङ्गमनुगतम्।' भावार्थ यह है कि निघण्टु के भाष्य को ही निरुक्त नाम से जाना जाता है और यह निरुक्त ही वेदाङ्गों में परिगणित हुआ है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में वेदार्थ की पञ्चविध प्रक्रियाओं का निर्देश है- तद्यथा अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकम् अधिज्योतिषम्, अधिविद्यम् अधिप्रजम्, अध्यात्मम्। दुर्गाचार्य ने निरुक्त टीका में त्रिविध प्रक्रियाओं में अधिदैवत, आधिभौतिक और आध्यात्मिक त्रिक को स्वीकार किया है। दूसरे कुछ विद्वान् आधिभौतिक के स्थान पर आधियाज्ञिक मान कर इस त्रिक को पूरा करते हैं।

कृतयुग के अन्त में दो नये वादों ने जन्म लिया। जिनमें से एक था दैवतवाद और दूसरा याज्ञिकवाद। कुछ समय तक इस दैवतवाद ने आधिभौतिक और आध्यात्मिक इन दोनों प्रक्रियाओं का सम्मिलित रूप से प्रतिनिधित्व किया। तदनुसार अग्नि, जल, वायु आदि पदार्थों को देवता का रूप दिया गया। इस दैवतवाद की परिसमाप्ति शनैः-शनैः-अधिष्ठातृवाद में होती गई।

जब मानव समाज में अध्यात्म मूल्यों का अभाव हो गया तो आधियाज्ञिक प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हुआ। यज्ञ का प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना था।

कलिकाल के प्रभाव में शनैः-शनैः वेद का आधिदैविक व आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। ज्ञान की महत्ता कम होकर कर्मकाण्ड प्रचलित होता गया। एक समय ऐसा आया कि ज्ञान और कर्म का कोई समन्वय ही नहीं रहा। प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये नये-नये यज्ञों की कल्पना आरम्भ हुई। उन नये यज्ञों में विनियोग के लिये वेदों में मन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके केवल शब्द साम्य देख कर विनियोग करने लगे। उदाहरणार्थ- निघण्टु (114) में दधिक्रावा पद पढ़ा गया है, जो कि अश्व शब्द का समानार्थक है। लेकिन याज्ञिक कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने इस अर्थ की सर्वथा उपेक्षा करके दधिक्रावा पद के एक अंश दधिमात्र का ग्रहण कर दधिक्रावा से सम्बद्ध मन्त्र का दधिप्राशन में विनियोग कर दिया। यह बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो ओर क्या है?

यज्ञों के नये सर्जन के साथ काल्पनिक मन्त्रों की रचना आरम्भ हुई। वेद के उपयोग के एककात्र केन्द्र यज्ञ की मान लिये गये। उनके अर्थों का लोप होने लगा। इन काल्पनिक विनियोगों से प्रभावित होकर कौत्स जैसे कर्मकाण्डी ब्राह्मण ने तो स्पष्ट घोषणा ही कर दी कि- अनर्थका हि मन्त्राः अर्थात् मन्त्र अनर्थक हैं।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उचित मन्त्र अनर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट झलकता है।

इसी कारण 'विनियोजक' ब्राह्मणम्- ऐसा लक्षण ही ब्राह्मणों को याज्ञिकों में प्रसिद्ध हो गया। मन्त्रार्थ परिज्ञान के लिये ब्राह्मणों का भी कोई उपयोग न रहा। सर्वथा तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि समाज में वेदार्थ के ज्ञान निर्मूल हो गये हो। थे अवश्य किन्तु अति न्यून संख्या में रह गये। ऐसे ही वेदार्थ के परिज्ञाताओं में से जैमिनि, यास्क और याज्ञवल्क्य मुख्य हैं। जिन्होंने पुरजोर इन मन्त्रार्थ आनर्थक्यवाद का प्रतिवाद किया। किन्तु फिर भी समाज में कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का बाहुल्य बना रहा।

यज्ञों की परिकल्पना से पूर्वकाल में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को द्यौ और पृथिवी- इन दो भागों में बाँटा जाता था। ताटस्थ्य उपाधि से उन्हें देव और भूत कहा जाता था। तदनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों का वर्णन आधिभौतिक प्रक्रिया का अङ्ग था और पृथिवी से ऊपर के पदार्थों का वर्णन अधिदैविक प्रक्रिया का। उस काल में देवों का अर्थ 'द्युस्थानो भवति'- ऐसा माना जाता था। जब दैवतवाद का आरम्भ हुआ तो देवों के अर्थ में - देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा और बढ़ा दिया गया। अधिष्ठातृवाद की उत्पत्ति होने पर तो अग्नि, वायु जल आदि चेतन अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना आरम्भ हुई और मन्त्रों से उनकी स्तुति चारण-भाट आदि के समान ही जाने लगी।

याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि दुर्गा, स्कन्द तथा वररुचि ने भी मन्त्रों का अर्थ उस प्रक्रियानुसार ही किया। इतना होने पर भी इनकी व्याख्याओं में यत्र-तत्र 'इत्यधिदैवतम्' आदि संकेत उपलब्ध होते हैं, जो मन्त्र के आधिदैविक अर्थ की ओर दिशा निर्देश करते हैं।

याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ से पराहत बुद्धि सायणादि आचार्य समझते थे कि वेद का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ (कर्मकाण्ड) ही है। और आध्यात्मिक विषय उपनिषदों का है, किन्तु उनकी यह धारणा सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वेद सभी विद्याओं का आकर ग्रन्थ है। ऐसा ही सृष्टि के आदि से सभी ऋषिगण एक स्वर से स्वीकार करते आये हैं। सुविज्ञ पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अध्यात्म का अर्थ केवल मात्र परमात्मा नहीं है, अपितु शरीर आत्मा और परमात्मा ये तीनों ही उसके विषय हैं।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में परिवर्तन- जब अध्यात्म का अर्थ केवल परमात्मा तक सीमित कर दिया गया तो सर्वप्रथम आध्यात्मिक प्रक्रिया से शरीर विज्ञान का सम्बन्ध छूटा और तदनन्तरं आत्मविज्ञान का नाता भी उस से टूट गया। इस का प्रभाव उपनिषदों में भी स्पष्ट देखने में आता है। ईश, कठ आदि उपनिषदों में शरीर, आत्मा और परमात्मा इन तीनों का वर्णन मिलता है। तथ माण्डूक्य उपनिषद् जो कि पीछे के काल की है, उसमें अकेले ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है। सम्भवतः यही एकाङ्गी ब्रह्म विचार उत्तरकाल में अद्वैतवाद के रूप में परिवर्तन का प्रभाव वेदार्थ की अध्यात्मप्रक्रिया पर भी पड़ा। मन्त्र के अर्थ में

येन-केन प्रकारेण ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ देना ही आध्यात्मिक अर्थ समझा जाने लगा। आगे चल कर जब 'वेद केवल यज्ञों के लिये ही है'- ऐसी धारणा बन गई तो वेद का आध्यात्मिक विद्या से सम्बन्ध मानव बुद्धि से तिरोहित हो गया। और उपनिषदों को ही अध्यात्म-विद्या का शास्त्र माना जाने लगा। तथा वेद की अपराविद्या में गणना होने लगी। तद्यथा-

तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं निरुक्त ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुण्डक उ. 1.1. 2)

याज्ञिक प्रक्रिया के समान ही आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी मन्त्र अनर्थक समझे जाने लगे। मन्त्र केवल जप करने का विषय रह गये। कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने कहना आरम्भ किया कि-

देवाधीनं जगत् सर्वं, मन्त्राधीना च देवता।

मन्त्राश्च ब्राह्मणाधीनाः सर्वं विप्रे प्रतिष्ठितम्।

इस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड की बागडोर वेदार्थ से अनभिज्ञ तथाकथित ब्राह्मणों के हाथ लग गई। वह अच्छा-बुरा जो करें। ऐसी अवस्था में वेद का सारा अध्यात्म लुप्त हो गया। और वेद-ज्ञान से विहीन मानवसमाज दुःख-सागर में डूब गया।

सम्प्रति वेदार्थ को ठीक-ठीक समझने के लिये हमारे पास एक-मात्र सहारा यास्कीय निरुक्त ही है। यास्क अपने शास्त्र में वेदार्थ में परिज्ञान के लिये आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक-इन तीनों प्रकार की प्रक्रियाओं का अनुसरण करता है। यह वेद के सभी पदों को यौगिक मानता है।

वेंकटमाधवकृत ऋग्वेदानुक्रमणी का वचन है।

शाकल्यः पाणिनिर्यास्कः इत्युगर्थपरास्त्रयः।

यथा शक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी।।

अर्थात्-पदपाठकार शाकल्य, वैयाकरण पाणिनि और नैरुक्त यास्क ये तीनों आचार्य अपने-अपने ढंग से वेदार्थ करने का प्रयत्न करते हैं। अपनी पूरी शक्ति से वेदार्थ को समझने का प्रयास करते हुवे भी वे वेद विद्या का सम्पूर्णता से व्याख्यान नहीं कर पाते तब सामान्य शास्त्र ज्ञान रखने वालों के विषय में तो क्या कहा जाये?

यज्ञों में जो अधिष्ठातृवाद आरम्भ हुआ उसके विषय में श्री सत्यव्रत सामश्रमी लिखते हैं-

पौराणिकदेवताकारादिकल्पना नूनं वेदविज्ञानग्रहणासमर्थमतीनां स्त्रीशूद्र-द्विजबन्धु-रूपाणां बालाधिया धर्मोपदेशादिसाहाय्यायैव... तथैव विद्यापरपर्यायवेदाध्ययन- हीना बालाकल्पितः देवस्वरूपादौ विश्वसन्त्येव, परं न तथा देवस्वरूपप्रत्यक्षदर्शिनो विद्वांसो वैदिकाः। (ऐतरेयालोचन) अयमेव पार्थिवो भौतिकोऽनिः सर्वत्र यज्ञेषु देव इति गृह्यते; नान्यः कश्चन कुत्रचित् जागर्ति कूर्मक्षीरचये स्नातः शराशृङ्ग धमुर्धरः खपुष्पकृतशेखरो बन्ध्यासुतः पौराणिकमानसोद्यानविहारी व्यक्ति विशेष इति। (तत्रैव, पृष्ठ 166)

अर्थात्- पौराणिक देवताओं के आकार आदि की कल्पना साधारण बुद्धि वालों को धर्मोपदेश करने मात्र के लिए की गई थी। देवताओं के

ऐसे आकार आदि में वे ज्ञान से रहित लोग ही विश्वास करते हैं। किन्तु प्रत्यक्षदर्शी वैदिक विद्वान् उसे सत्य नहीं मानते।

यह पार्थिक अग्नि ही सब यज्ञों का देव कहलाता है। उस से भिन्न अन्य कोई देव नहीं है। किसी अधिष्ठातृ देव की कल्पना आकाश के पुष्प, कछुवे के दूध में स्नान किये हुए वन्ध्या के पुत्र के समान सर्वथा असम्भव और निराधार है। यह पैरागिक कर्मकाण्डी व्यक्ति के अपने मरुपी उद्यान में विहार करने के समान व्यर्थ की परिकल्पना है।

देवता विषय में स्वयं निरुक्तकार का कथन है-

यद्देतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति..... माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते.... आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा आत्मायुधमात्मेष्वं आत्मा सर्वं देवस्य। (निरुक्त 7.4)

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्योः द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। (निरुक्त 7.5)

यदि अधिष्ठातृ देवों की कल्पना करके वेदार्थ किया जायेगा तो वह वेद के साथ कितना अनर्थ होगा इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

निरुक्तकार का वचन है कि-

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतिगतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। अर्थात्- इस शास्त्र के ज्ञान विना वेदार्थ का ज्ञान ही हो सकता। और जिसे अर्थ का ज्ञान ही उस के लिये स्वर और संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय) का उपदेश व्यर्थ है। निरुक्त शास्त्र विद्या का स्थान, व्याकरण का सम्पूरक और अपने स्वतन्त्र अर्थ का बोधक है।

कौत्स मन्त्रों को अनर्थक मानता है। जिन हेतुओं से वह मन्त्रों को अनर्थक मानता है यास्क ने उन्हें पूर्वपक्ष के रूप में रख कर उन में से एक-एक का युक्तिपूर्वक प्रतिवाद किया है। उन्हें हम नीचे दिखलाते हैं-

1. कौत्स का कथन है कि मन्त्रों में शब्दानुपूर्वी नियत होने से वे अनर्थक हैं। यास्क इस पर युक्ति देते हैं कि लोक में भी आनुपूर्वी नियम देखी जाती है। जैसे पिता-पुत्र माता-पिता आदि। और अग्नि वायु आदि शब्द जब लोक में सार्थक है वो वेद में अनर्थक कैसे हो गये?

2. कौत्स का कहना है कि यदि मन्त्र अर्थवान् थे तो उनके दुबारा अर्थ करने की ब्राह्मणों में क्या आवश्यकता थी। इस पर यास्क का समाधान है कि किसी मूलग्रन्थ का अनुवाद करने से मूल ग्रन्थ अनर्थक नहीं हो जाता। यदि वह अनर्थक होता तो अनुवादक उस का अनुवाद ही क्यों करता। चूँकि ब्राह्मणों में वेदार्थ का व्याख्यान है, इस हेतु वेदों की महत्ता पर ही प्रकाश पड़ता है।

3. कौत्स का आक्षेप है कि मन्त्र असंगतार्थक हैं। यास्क का कथन है- यह हमारी ही बुद्धि का दोष है, जो हम मन्त्र में अर्थ की संगति नहीं देख पाते। हमें मन्त्रार्थ को जान कर ही उस मन्त्र का उचित कर्म में विनियोग करना चाहिये। जैसे- ओषधे त्रयस्वैनम् मन्त्र बोलकर केशच्छेदन किया जाता है। केश छेदन में हिंसा नहीं होती।

4. जो यह आक्षेप किया जाता है कि वेदमन्त्र विरुद्ध अर्थ देते हैं। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे लोक में कहा जाता है कि ब्राह्मण असपत्न है या यह राजा अजातशत्रु है, तो उस का अर्थ यही होता है

कि उनके शत्रु अति न्यून या निर्बल हैं। इसी प्रकार वेद में भी समझना चाहिये। जैसे कहा कि रुद्र एक है तो वहाँ उसका अर्थ परमेश्वर है। जब रुद्र 11 कहा तब अर्थ भौतिक पदार्थों से होता है। उन में विरोध नहीं है।

5. याज्ञिक अग्नि को जानते हुवे उसमें अग्नये स्वाहा आदि बोलता है। तो मन्त्र में अग्नये पद व्यर्थ नहीं है, अपितु यह ज्ञान, कर्म और मन्त्र की साम्यता का अवबोधक है। जो हमारे ज्ञान में है वही कर्म में है और जो कर्म में है वही मन्त्र में है। इससे मन्त्र को अनर्थक नहीं कह सकते।

6. मन्त्र में एक स्थान पर अदिति को ही सब कुछ कह दिया गया है। ऐसा लोक में भी देखा जाता है जैसे- त्वमेव माता च पिता त्वमेव आदि। यह वस्तु या व्यक्ति की उत्कृष्टता को दिखाने के लिये कहा जाता है। ऐसा देख कर मन्त्र को अनर्थक नहीं कह सकते।

7. सातवाँ आक्षेप है कि मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट नहीं है। किन्तु यह दोष तो मन्त्र का नहीं है। यह तो आक्षेपकर्ता की बुद्धि का है। वेदार्थ को समझने के लिए व्यक्ति को शास्त्रों में श्रम करना चाहिये।

इस लिये वेद मन्त्र सार्थक हैं और उनके ज्ञान के लिए निरुक्त शास्त्र का तथा अन्य वेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिये।

यजुर्वेद (516) तथा ऋग्वेद (7.9.9.3) का मन्त्र है-

इरावती धेनुमती.....मयूखैः स्वाहा।।

इस मन्त्र का देवता विष्णु है। इस देवता को देखकर सायण ने 'मयूखैः' शब्द का अर्थ पर्वतैः किया है। वे लिखते हैं:- मयूखैः पर्वतैः दाधर्थं धारितवानसि अर्थात् पृथिवी को विष्णु ने पर्वतों से धारण किया। महीधर ने मयूखैः=स्वतेजोरूपैर्नानावैर्राहाद्यवतारैर्वा अर्थ किया है।

यास्क-मयूख को रश्मि नामों में पढ़ते हैं। यास्क के अनुसार महर्षि दयानन्द इसका अर्थ करते हुवे लिखते हैं:- 'ज्ञानप्रकाशादिगुणै रश्मिभिर्वा.....। यहाँ यास्क की देन और ऋषि की ऊहा देखिये। उन्होंने किस प्रकार के गम्भीर रहस्य को प्रकट किया। महर्षि ने तो पदे-पदे अपने वेद भाष्य में यास्क का अनुसरण किया है। निरुक्त के बिना वेदार्थ को नहीं समझा जा सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. यजुर्वेद- 31.7
2. निरुक्त
3. पाणिनि शिक्षा
4. महाभाष्य
5. मनुस्मृति- 12.102
6. अष्टाध्यायी- 6.3.108
7. काशिका
8. गोपथ ब्राह्मण
9. निरुक्तालोचन
10. मुण्डकोपनिषद
11. ऋग्वेदानुक्रमणी
12. ऐतरेयालोचन
13. ऋग्वेद
14. यजुर्वेद